कश्मीर

सरकारी विमर्श बनाम गाँधी, आम्बेडकर और लोहिया

उर्मिलेश

केंद्रीय सत्ता हासिल करने के बाद शुरुआत में कुछ समय तक प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने कश्मीर मामले में कुछ रणनीतिक-लचीलेपन का संकेत दिया था। इसके परिणामस्वरूप कश्मीर के अंदर और बाहर के कुछ राजनीतिक प्रेक्षक और टिप्पणीकार इसे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और भारतीय जनता पार्टी की कश्मीर-नीति में बड़ा बदलाव मानने लगे थे। पर ऐसे लोगों को निराश होने में देर नहीं लगी। भाजपा और मोदी सरकार ने जल्दी ही राष्ट्रीय मंच पर कश्मीर को लेकर एक बेहद ख़तरनाक विमर्श पेश कर दिया। सरकारी नीति-रणनीति के अलावा इसे देश के शासकीय-प्रसारण मंचों और निजी न्यूज़ चैनलों के ज़रिये पूरे देश में फैलाया गया। यह विमर्श था : कश्मीर बनाम शेष भारत! ख़ास तौर से हिंदी पट्टी की बड़ी आबादी और ज़्यादा संसदीय सीटों वाले सूबे इस विमर्श के निशाने पर थे। सरकार ने अपनी एजेंसियों, सत्ताधारी दल के नेताओं-कार्यकर्ताओं और न्यूज़ चैनलों के ज़रिये इस हिस्से के भारत को कश्मीर के ख़िलाफ़ खड़ा करने में कामयाबी हासिल की। इस रणनीति का नतीजा यह हुआ कि जम्मू-कश्मीर सूबे में किसी हत्या, बलात्कार या किसी और अत्याचार की घटना पर ख़ास तौर से हिंदी पट्टी की बड़ी आबादी का आसानी से समर्थन जुटाना आसान हो गया। हालात इतने ख़राब हुए कि मानवाधिकार संगठनों और न्यायिक मंचों के लिए भी कश्मीर मामले में वस्तुगत हो कर फ़ैसला लेने या किसी तरह का कारगर हस्तक्षेप करने की सम्भावना सिकुड़ती चली गयी। कश्मीर के लोगों के पक्ष में हल्के स्वर में भी अगर किसी ने कुछ

कहना चाहा तो उसे बहुत आसानी से देशद्रोही बताया जाने लगा! यह सब 5 अगस्त, 2019 से बहुत पहले ही होने लगा था।

कश्मीर और वहाँ के लोग देखते-देखते शेष भारत, ख़ासकर हिंदी पट्टी की बड़ी आबादी की नज़र में स्थायी शत्रु बन गये। इसके पीछे कई कारण थे। इसमें एक था, कश्मीर का ऐसा मुस्लिम-बहुल सरहदी राज्य होना जो तीन दशक से आतंक-अलगाव से प्रभावित रहा। दूसरा बड़ा कारण रहा, देश के अन्य हिस्सों, ख़ासकर हिंदी भाषी लोगों का कश्मीर के समाज और इतिहास के बारे में बेहद अल्प-सूचित होना। न केवल यह, बल्कि लोगों के दिमाग़ों में कश्मीर को लेकर बहुत-सी ग़लतफ़हमियाँ और बेसिर-पैर की बातें भरी होना। इसके लिए हिंदी अख़बार और न्यूज़ चैनल ही काफ़ी हद तक ज़िम्मेदार नहीं रहे, बल्कि हिंदी के अकादमीय जगत को भी इसके लिए क़सूरवार समझा जाना चाहिए। हिंदी मीडिया ने जम्मू-कश्मीर के कवरेज में पूरी तरह सरकारी विभागों या सुरक्षा एजेंसियों पर ही भरोसा किया और यह सिलसिला आज भी जारी है। सोच से लेकर सूचना-संग्रह तक इस संबंध में हिंदी मीडिया की दरिद्रता दिखाई देती है। कुछेक अंग्रेज़ी अख़बारों और चैनलों के अलावा हिंदी के अख़बारों और ज़्यादातर चैनलों के घाटी में अपने संवाददाता तक नहीं हैं। यही कारण है कि इनके ज़रिये इतिहास हो या समकालीन घटनाक्रम, इन सब पर प्रायोजित सूचनाओं को सत्य के रूप में परोसा जाता रहा। यहाँ सिर्फ़ एक उदाहरण देना चाहूँगा। हिंदीभाषी क्षेत्र में आज भी जम्मू-कश्मीर के सबसे दिग्गज नेता और शेरे-कश्मीर कहे जाने वाले शेख़ मुहम्मद अब्दुल्ला की छवि एक खलनायक जैसी है, जबकि भारतीय राष्ट्र-राज्य के नज़रिये से भी देखें तो वह एक ऐसे जननायक और नेता माने जाएँगे, जिनकी इच्छा और सक्रिय योगदान के बग़ैर कश्मीर का भारत के साथ संवैधानिक-सम्मिलन सम्भव नहीं होता! एक प्रशासक के रूप में भी वे भारत के अन्य सूबों के लिए एक अनुकरणीय नेता के रूप मे उभरे। उन्होंने अपने समाज में ग़रीबी, असमानता और उत्पीड़न के सिलसिले को ख़त्म करने की ज़ोरदार कोशिश की। भारत में आज़ादी के बाद पहला सुसंगत भूमि सुधार शेख़ की अगुआई में जम्मू-कश्मीर में ही हुआ। उन दिनों वे सूबे के वज़ीरे आज़म (प्रधानमंत्री) कहलाते थे। पर इन बुनियादी सूचनाओं से भी हिंदी क्षेत्र के अशिक्षित-शिक्षित लोगों का बड़ा हिस्सा आज भी वंचित-सा है। ज़ाहिर है कि इसके पीछे शासकीय संस्कृति और सूचना तंत्र की भूमिका से इनकार नहीं किया जा सकता, यह भी कम उल्लेखनीय नहीं है कि लम्बे समय तक हिंदी के अकादमीय क्षेत्र में भी कश्मीर पर कोई काम नहीं हुआ। अंग्रेज़ी में बेहतरीन किताबें आती रहीं, पर हिंदी के प्रकाशकों ने उनके अनुवाद तक नहीं छापे। इधर यह सिलसिला टूटता नज़र आ रहा है। हाल के कुछ वर्षों में कश्मीर के समाज और राजनीति पर पहली दफ़ा कुछ किताबें हिंदी भाषा में छपी हैं। इनमें सबसे ताज़ा किताब है युवा इतिहासकार और साहित्यकार अशोक कुमार पाण्डेय की *कश्मीरनामा : इतिहास और समकाल*। इस आलेख में इस किताब की संक्षिप्त चर्चा तो की ही जाएगी, लेकिन उससे पहले कश्मीर को ले कर हुए हाल के अप्रत्याशित और अभूतपूर्व फ़ैसलों के बारे में सत्ताधारी ख़ेमे द्वारा दी जा रही कुछ दिलचस्प दलीलों पर नज़र डालना भी ज़रूरी है। हाल के सरकारी फ़ैसले को सही साबित करने के लिए शासन और मुख्यधारा के मीडिया द्वारा काफ़ी झूठ उगला गया है।

कश्मीर के हालात बीते तीन दशकों से लगातार ख़राब रहे हैं। लेकिन यह मानना पड़ेगा कि 2003-04 के बाद हालात में सुधार के कुछ अच्छे संकेत दिखने लगे थे। बीच-बीच में कुछ नकारात्मक घटनाएँ भी होती रहती थीं। पर 2019 के 5 अगस्त के बाद कश्मीर घाटी में लोकतंत्र का एक भी निशान नहीं बचा है। कश्मीर पूरी तरह सुरक्षा बलों के अधीन है। सूबे का बड़ा हिस्सा इंटरनेटविहीन है, जिस पर सुप्रीम कोर्ट भी अब टिप्पणी कर चुका है। इंटरनेट-शटडाउन के मामले में वैसे भी भारत इस वक़्त दुनिया के 190 देशों में अव्वल बना हुआ है। उसका सूडान, चाड और म्याँमार के रखाइन सूबे के साथ दुनिया के सर्वाधिक इंटरनेट-शटडाउन प्रभावित क्षेत्रों में शुमार किया जाता है। सुप्रीम कोर्ट अभी तक अनुच्छेद-370 के सम्बद्ध प्रावधानों को निरस्त करने और सूबाई विभाजन को चुनौती देने वाली याचिकाओं पर चिंताजनक ढंग से

ख़ामोश है। घाटी के सभी प्रमुख नेता तब से जेल में या अपने घरों में नज़रबंद हैं। ऐसे तमाम निरंकुश क़दमों के साथ इस सरहदी सूबे का विभाजन हो चुका है और बँटे हुए दोनों हिस्से– जम्मू-कश्मीर और लद्दाख केंद्र-शासित राज्य बन चुके हैं। इसके मुताबिक़ कश्मीर के पास सीमित अधिकारों वाली विधानसभा होगी पर लद्दाख के पास वो भी नहीं!

गाँधी कश्मीर के भारत में सम्मिलन और उसके भावी स्वरूप को लेकर बहुत साफ़ थे। उनका मानना था कि कश्मीर की जनता की भावना को नज़रअंदाज़ करके कोई क़दम नहीं उठाया जा सकता। जनता के मन और पक्ष को जानने के बाद ही उन्होंने कश्मीर के तत्कालीन महाराजा हरी सिंह के मुक़ाबले शेख़ मुहम्मद अब्दुल्ला को ज़्यादा तरजीह देनी शुरू की। कश्मीर को लेकर नेहरू के विचारों पर उनका भरोसा पुख़्ता हुआ।

क्या कश्मीर को सँभालने का यह नज़रिया दूरदर्शी है?

संविधान के अनुच्छेद-370 के ख़ात्मे, सूबे के विभाजन और पूर्ण राज्य का दर्जा छीनने जैसे फ़ैसलों के बाद नयी चुनौतियों से सरकार को कैसे निपटना है— इसका कोई साफ़ नज़रिया किसी स्तर पर नहीं दिखाई देता। घाटी में भारतीय सेना और अर्धसैनिक बलों की इतनी भारी तैनाती कब तक रहेगी, इस बारे में कोई आकलन नहीं किया गया है। एक शीर्ष उच्चाधिकारी के मुताबिक़ अप्रैल महीने तक मौजूदा तैनाती में किसी तरह के फेरबदल या कटौती की कोई सम्भावना नहीं है। कश्मीर में इतिहास की यह सबसे बड़ी सैन्य-तैनाती है, जिसे पूरी सर्दियाँ वहाँ बितानी पड़ रही हैं। मानवीय समस्या के अलावा इसके वित्तीय पहलू भी कम ग़ौरतलब नहीं! शुरू में सरकार को चुनौती सिर्फ़ घाटी से नज़र आयी, पर अब धीरे-धीरे जम्मू और लद्दाख के करगिल क्षेत्र की नाराज़गियाँ भी ज़ाहिर हो रही हैं। ख़ास तौर पर जम्मू में हर वर्ग और धार्मिक पृष्ठभूमि के लोगों में अपनी सम्पत्ति, ज़मीन-जायदाद, ठेका और व्यापार आदि को लेकर तमाम तरह की चिंताएँ बढ़ी हैं। बाहरी लोगों के हस्तक्षेप या कॉरपोरेट घुसपैठ को लेकर कई तरह की आशंकाएँ दिख रही हैं। लोगों का यह भी कहना है कि अगले कुछ सालों में नयी नीतियों का असर दिखने लगेगा और सबसे पहले स्थानीय बाज़ार-व्यापार प्रभावित होंगे। अगर क़ानून में फेरबदल नहीं हुआ तो बहुत जल्दी ही स्थानीय व्यापारिक इकाइयों से जम्मू-कश्मीर के कम से कम चार-पाँच लाख कर्मियों का बेरोज़गार होना अवश्यम्भावी है। राजनीतिक मोर्चे पर कई तरह की चुनौतियाँ हैं। केंद्र-शासित जम्मू-कश्मीर की विधानसभा कब गठित होगी, उसके चुनाव कब होंगे, कोई नहीं जानता। अभी सबसे बड़ी समस्या सीटों के पुनर्निधारण और परिसीमन की है। इसमें कई नये पेच पैदा हो गये हैं।

मसलन, नये एक्ट के मुताबिक़ अभी हाल में जम्मू-कश्मीर हाईकोर्ट ने ग़ैर-राजपत्रित पदों के लिए 33 रिक्तियाँ निकालीं। मीडिया में विज्ञापन जारी हो गये। नये प्रावधानों के अनुसार पूरे भारत से आवेदन मँगवाए गये। इस पर घाटी और जम्मू के स्थानीय लोगों में काफ़ी नाराज़गी पैदा हुई। स्वयं भाजपा के नेता-कार्यकर्ता भी इसे पचा नहीं पा रहे थे। वे भी विरोध में आ गये। नतीजतन केंद्र को आदेश दे कर हाईकोर्ट में रिक्तियों के उक्त विज्ञापन को वापस लेना पड़ा।

इसी तरह जम्मू-कश्मीर में धारा-370 के ख़ात्मे और राज्य के दर्जे में किये बदलाव से सम्पत्ति, ख़ासकर जमीन के स्वामित्व सम्बन्धी चार महत्त्वपूर्ण क़ानूनों की स्थिति अधर में लटक गयी है। प्रशासनिक
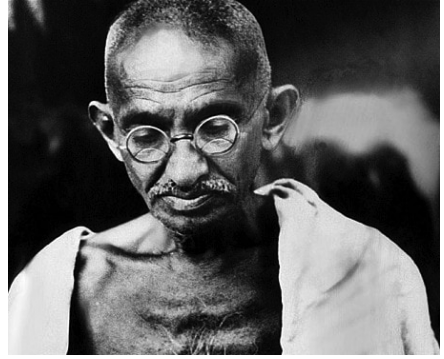
स्तर पर ऊहापोह की स्थिति है। ये चार क़ानून हैं— जम्मू-कश्मीर एलियनेशन ऑफ़ लैंड एक्ट (1995), बिग लैंडेड एस्टेट एबोलिशन एक्ट (2007), जम्मू ऐंड कश्मीर लैंड ग्रांट एक्ट (1960) और एग्रेरियन रिफ़ार्म्स एक्ट (1976)। राज्य पुनर्गठन क़ानून में सूबे के कुछ पुराने क़ानूनों को शामिल किया गया है, पर इन चार क़ानूनों को जगह नहीं मिली है। इसका मतलब है कि जम्मू-कश्मीर के स्थानीय लोगों की ज़मीन-जायदाद की अब कोई सुरक्षा नहीं होगी। किसी बाहरी आदमी या संस्था को बहुत आसानी से ज़मीन का मालिकाना स्थानांतरित किया जा सकता है। इसे लेकर राज्य के तीनों हिस्सों में तमाम तरह की आशंकाएँ और अटकलें हैं। सैन्य मौजूदगी और निरंकुश दमन के दौर के चलते फ़िलहाल लोग ख़ामोश रहने में ही भलाई समझ रहे हैं। पर आगे का रास्ता बहुत निरापद नहीं लगता।

अनुच्छेद-370, इतिहास और सत्ता के झूठ

2019 के 5 अगस्त को अनुच्छेद-370 के कश्मीर के विशेष दर्जे से सम्बद्ध प्रावधानों को ख़त्म करने के बाद सत्ताधारी पार्टी के शीर्ष नेताओं ने अपने फ़ैसले के पक्ष में संघ-जनसंघ के बजाय स्वाधीनता आंदोलन के कुछ बड़े नेताओं को उद्धृत करना शुरू किया। देश के प्रथम गृहमंत्री सरदार वल्लभ भाई पटेल, डॉ. भीमराव आम्बेडकर और समाजवादी नेता डॉ. राम मनोहर लोहिया सहित कई राष्ट्रीय नेताओं के बयानों को सुविधानुसार काट-छाँट कर पेश किया गया ताकि वे धारा-370 और फिर जम्मू-कश्मीर सूबे के विभाजन को जायज़ ठहरा सकें। प्रधानमंत्री मोदी ने तो राष्ट्र के नाम अपने संदेश में यह तक कह दिया कि उनकी सरकार ने कश्मीर पर ऐसा फ़ैसला करके सरदार पटेल, बाबा साहेब आम्बेडकर, श्यामा प्रसाद मुखर्जी और अटलजी का सपना पूरा कर दिया है। मुखर्जी और वाजपेयी के बारे में तो यह बिल्कुल सही है कि उनके सपने पूरे किये गये हैं। पर इसमें सरदार पटेल और डॉ. आम्बेडकर का नाम क्यों जोड़ा गया— यह बात कश्मीर के इतिहास का कोई अदना-सा छात्र भी शायद ही समझ पाया हो!

दरअसल, कश्मीर के बारे में उस वक़्त जो बातें कही गयीं, उनका एक मतलब था। भाजपा-संघ के नेता बरसों से कश्मीर-मामले में देश के पहले प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू पर निशाना साध कर सारी समस्या के लिए उन्हें सबसे बड़ा गुनहगार साबित करते रहे हैं। नेहरू के ख़िलाफ़ पटेल, लोहिया और आम्बेडकर को खड़ा करना थोड़ा तार्किक और आसान दिखता है। पर इस आसान दिखते समीकरण का सामान्यीकरण कैसे हो सकता है? भाजपा नेताओं को शायद जानकारी ही न रही हो कि संविधान के अनुच्छेद-370 का (मूल मसविदे में अनुच्छेद 306-ए) लेखन गोपालासामी आयंगर ने सरदार पटेल की देखरेख में ही किया था। उस वक़्त जवाहर लाल नेहरू विदेश-दौरे पर थे। इस अनुच्छेद को संविधान में शामिल करने के सवाल पर प्रधानमंत्री नेहरू ने पटेल, आयंगर और कुछ अन्य प्रमुख नेताओं की मौजूदगी में नेशनल कांफ्रेंस नेता शेख़ मुहम्मद अब्दुल्ला और उनकी पार्टी की तरफ़ से भारतीय संविधान सभा के एक अन्य सदस्य मिर्ज़ा अफ़जल बेग़ से कई दफ़ा मशविरा किया था। प्रस्तावित प्रावधानों पर व्यापक सहमति बन गयी थी। हालाँकि बाद में आयंगर ने इसकी एक उपधारा में फेरबदल कर दिया, जिसे लेकर शेख़ और उनके साथी बहुत नाराज़ हुए थे। पर बाद में उन्हें मना लिया गया। आज के सत्ताधारियों ने अपने प्रचार-तंत्र, ख़ासकर निजी न्यूज़ चैनलों के ज़रिये पूरे देश में यह बात प्रचारित की और ज़्यादातर लोगों को इससे आश्वस्त भी करा लिया कि पटेल, आम्बेडकर और लोहिया आदि तो बिल्कुल यही चाहते थे जो आज मोदी सरकार ने कश्मीर मामले में किया है।

सरकार और भाजपा के शीर्ष नेताओं के बयानों पर कांग्रेसियों की तरफ़ से हल्की-सी प्रतिक्रिया आयी। इतिहास के ठोस तथ्यों के साथ कांग्रेस अपनी बात सुचिंतित ढंग से रखने में विफल रही। संसदीय राजनीति में अब लोहियावादी बचे नहीं हैं, पर कुछेक लोग अब भी लाल-टोपी पहन कर अपनी समझौतापरस्त दिवालिया राजनीति को लोहियावादी बताते फिरते हैं। ऐसे लोहियावादियों के

सामने ही संसद में भाजपा और सरकार के शीर्ष नेताओं ने इस फ़ैसले को लोहिया के विचारों के अनुरूप होने का दावा किया। पर वहाँ बैठे किसी कथित लोहियावादी ने उन्हें रोका नहीं कि जनाब, आप हमारे सामने ही सरासर ग़लतबयानी क्यों कर रहे हैं? पर वे कहते रहे, ये सुनते रहे! अपने ही श्रद्धेय नेताओं को नहीं पढ़ेंगे, तो यही होगा! वैसे भी इन दिनों इंटरनेट के ज़रिये जीवित लोगों या सामने के घटनाक्रमों के बारे में भी झूठ उगल कर उसे सच के रूप में स्थापित करने वाली टोलियाँ बनी हुई हैं। आईटी सेल और वॉट्सएप युनिवर्सिटी की अनेक शाखाएँ-उपशाखाएँ मौजूद हैं।

यह बात सही है कि कश्मीर पर सरदार पटेल की समझ पूरी तरह जवाहर लाल नेहरू की समझ जैसी नहीं थी। पर वे नेहरू की राय की खुलकर मुखालफ़त भी नहीं कर पाते थे। इसकी सबसे बड़ी वजह थी कश्मीर के मामले मे गाँधी की राय! वस्तुतः गाँधी कश्मीर के मामले बहुत साफ़ और सुंसगत थे। इसके प्रमाण आज़ादी से पहले मई, 1946 में भी मिलते हैं, जब जम्मू-कश्मीर में शेख़ अब्दुल्ला की अगुआई में कश्मीर छोड़ो (राजाओं-महाराजाओं, सूबे की सत्ता छोड़ो) आंदोलन की शुरुआत हुई थी। झेलम घाटी और सूबे के अन्य इलाक़ों में भी शेख़ अब्दुल्ला को भारी समर्थन मिला और देखते ही देखते यह एक जनांदोलन में तब्दील हो गया। इससे भयभीत होकर महाराजा की सरकार ने शेख़ अब्दुल्ला को गिरफ़्तार कर लिया। नेहरू ऐसे नाज़ुक मौक़े पर पूरी तरह शेख़ अब्दुल्ला के साथ थे। उसकी सबसे बड़ी वजह थी कि नेहरू को मालूम हो गया था कि कश्मीरी अवाम का व्यापक हिस्सा शेख़ के साथ है (कैसी विडम्बना है, उन्हीं नेहरू की सरकार ने 1953 के अगस्त महीने में, ईद से ऐन पहले शेख़ अब्दुल्ला को गिरफ़्तार कराके उन्हें सूबे के वज़ीरे आज़म के पद से हटाने का फ़ैसला किया)। बहरहाल, उस समय डोगरा राज द्वारा शेख़ की गिरफ़्तारी के विरोध में नेहरू कश्मीर रवाना हो गये। वहाँ महाराजा की पुलिस ने नेहरू को गिरफ़्तार कर लिया और उड़ी के डाकबंगले में रखा। उधर, दिल्ली में कैबिनेट मिशन से वार्ता के लिए दिल्ली में उनका इंतज़ार हो रहा था। कांग्रेस नेतृत्व और ब्रिटिश सरकार के दबाव में महाराजा ने अंततः नेहरू को रिहा किया और एक निजी विमान से उन्हें जल्दी से जल्दी दिल्ली लाया गया ताकि कैबिनेट मिशन से वार्ता हो सके। लेकिन नेहरू दिल्ली आ कर जेल में पड़े शेख़ अब्दुल्ला को भूले नहीं। उन्होंने मुक़दमे में शेख़ की पैरवी के लिए पटना के मशहूर वकील बलदेव सहाय को कश्मीर भेजा। सहाय के अलावा आसफ़ अली और दीवान चमन लाल भी शेख़ के वकील थे। ये सभी तपे-तपाये राष्ट्रवादी (उन दिनों राष्ट्रवादी शब्द संघियों के लिए नहीं, स्वाधीनता सेनानियों के लिए प्रयुक्त होता था) थे। लेकिन उस दौर में सरदार वल्लभ भाई पटेल शेख़ अब्दुल्ला के आंदोलन से बहुत ख़ुश नहीं थे। वे आचार्य कृपलानी की तरह शेख़ अब्दुल्ला से चिढ़े हुए तो नहीं थे, और पूरी तरह महाराजा के भी साथ नहीं थे, पर शेख़ से क्षुब्ध ज़रूर थे। ऐसे नाज़ुक दौर में कश्मीर मामले में नेहरू को किसी और का नहीं बल्कि स्वयं गाँधी का समर्थन मिला।

कश्मीर की स्वायत्तता का सवाल और गाँधी

अपने पूरे जीवन में गाँधी कश्मीर सिर्फ़ एक ही बार गये। वह कश्मीर का एक झंझावाती दौर था! शेख़ महाराजा की जेल में थे। जाना था नेहरू को, पर गाँधी ने स्वयं जाने का फ़ैसला किया। अपनी इस यात्रा को लेकर वे काफ़ी उत्साहित थे। उन्होंने 30 जुलाई, 1947 को अपने एक शुभचिंतक को लिखे पत्र में दर्ज किया: मैं कश्मीर दौरे पर जा रहा हूँ। पहली बार। कौन जाने यह आख़िरी कश्मीर दौरा भी साबित हो! वे एक अगस्त को वहाँ पहुँचे। कैसी विडम्बना है, सचमुच वह गाँधी का पहला और आख़िरी कश्मीर दौरा साबित हुआ। मुहम्मद अली जिन्ना ने भी कश्मीर का एक ही दौरा किया और वह बुरी तरह विफल रहा। घाटी के मुसलमानों ने जिन्ना को ज़मींदारों-रियासतदारों का समर्थक बता कर उन पर टमाटर और अण्डे तक फेंके थे। लेकिन गाँधी का घाटी में हर वर्ग और समुदाय के लोगों ने फूल-मालाओं से स्वागत किया। झेलम में नावों के जुलूस में उनकी जय के नारे लगाए गये।

श्रीनगर में गाँधी ने साफ़ शब्दों में कहा कि महाराजा को कश्मीरी जनता का विश्वास प्राप्त नहीं है। लोग शेख़ अब्दुल्ला का सम्मान करते हैं और उनकी रिहाई चाहते हैं। लौटते समय उन्होंने जम्मू की प्रार्थना सभा में यह भी कहा कि जम्मू-कश्मीर के भविष्य का फ़ैसला यहाँ के लोग ही करेंगे। अंततः आज़ादी के बाद 20 सितम्बर, 1947 को शेख़ अब्दुल्ला महाराजा की जेल से रिहा किये गये। सरदार पटेल की कश्मीर सम्बन्धी समझ और रणनीति में गाँधी के रुख़ के खुलासे के बाद काफ़ी बदलाव देखा गया। इस पूरे प्रसंग का विस्तार से उल्लेख मैंने इसलिए किया कि अगर गाँधी के विचारों की रोशनी में देखें तो मौजूदा मोदी सरकार का कश्मीर पर लिया गया फ़ैसला गाँधी के विचारों के ठीक उलट है, क्योंकि यह फ़ैसला जम्मू कश्मीर की जनता को पूरी तरह नज़रअंदाज़ करके लिया गया है। यह ठीक है कि अनुच्छेद-370 के संविधान में शामिल किये जाने से पहले गाँधी की हिंदुत्ववादी षड्यंत्र के तहत हत्या कर दी गयी थी। पर गाँधी कश्मीर के भारत में सम्मिलन और उसके भावी स्वरूप को लेकर बहुत साफ़ थे। उनका मानना था कि कश्मीर की जनता की भावना को नज़रअंदाज़ करके कोई क़दम नहीं उठाया जा सकता। जनता के मन और पक्ष को जानने के बाद ही उन्होंने कश्मीर के तत्कालीन महाराजा हरी सिंह के मुक़ाबले शेख़ मुहम्मद अब्दुल्ला को ज़्यादा तरजीह देनी शुरू की। कश्मीर को लेकर नेहरू के विचारों पर उनका भरोसा पुख़्ता हुआ। पर विडम्बना देखिए, आज मोदी-शाह के कश्मीर-प्रलाप के शोर में इस बाबत गाँधी को भी पढ़ने-समझने की कोशिश नहीं की गयी।

आम्बेडकर का प्रसंग और कश्मीर

अब हमें आम्बेडकर के कश्मीर-विषयक विचारों को संक्षेप में जानना चाहिए। आम्बेडकर को भी इस दौरान कश्मीर मामले में मनमाने ढंग से उद्धृत करके यह बात कही गयी है कि कश्मीर या पाकिस्तान के मामले में उनका सोच नेहरू या कांग्रेस-वैचारिकी से कई मामलों में अलग था। वैसे भी वे कोई कांग्रेसी तो थे नहीं। हर विषय पर उनके अपने स्पष्ट विचार थे। कोई सहमत हो या न हो! नेहरू कैबिनेट से 27 सितम्बर, 1951 को दिए उनके इस्तीफ़े में दर्ज कुछ महत्त्वपूर्ण टिप्पणियों से भी कश्मीर पर उनके विचारों को समझा जा सकता है। इस्तीफ़े का पूरा विवरण बाबासाहेब के समग्र लेखन के संकलन खण्ड-14 के भाग-2 में पृष्ठ संख्या 1317 से 1327 के बीच में दर्ज है। उनका इस्तीफ़ा दस पृष्ठों का है। वह कोई मामूली त्यागपत्र नहीं है। उस वक़्त की भारतीय राजनीति और वैचारिकी को समझने का यह एक ऐतिहासिक दस्तावेज़ है, जिसे लम्बे समय तक अकादमीय-दुनिया ने नज़रअंदाज़ किया!

नेहरू कैबिनेट से अपने इस्तीफ़े के लिए आम्बेडकर ने चार-पाँच प्रमुख कारण बताए और इस बाबत अपनी असहमतियों का ब्योरेवार ज़िक्र किया। इसमें हिंदू कोड बिल संबंधी कारण तो सबसे चर्चित हुआ, पर अन्य मुद्दों पर ख़ास चर्चा नहीं हुई। अपने इस्तीफ़े के तीसरे कारण में उन्होंने नेहरू सरकार की विदेश नीति के कुछ ख़ास पहलुओं से अपनी असहमति जताई थी। इस क्रम में उन्होंने जॉर्ज बर्नाड शॉ और बिस्मार्क को भी उद्धृत किया। वे बताते हैं कि भारत इस वक़्त कुल 350 करोड़ का सालाना राजस्व प्राप्त कर रहा है, इसमें 180 करोड़ हम सेना पर ख़र्च कर रहे हैं। यह बहुत बड़ा ख़र्च है और ऐसा उदाहरण शायद ही कहीं और मिलेगा। सेना पर यह ख़र्च हमारी विदेश नीति का परिणाम है। हमारे दोस्त देश नहीं हैं, जिन पर हम किसी इमरजेंसी में भरोसा कर सकें। क्या यह सही विदेश नीति है? पाकिस्तान से हमारा झगड़ा विदेश नीति की विफलता का नतीजा है, जिससे मैं बुरी तरह क्षुब्ध रहा हूँ। दो वजहें हैं, जिनके चलते हमारे पाकिस्तान से रिश्ते ख़राब हैं। पहली वजह कश्मीर और दूसरी वजह है पूर्वी बंगाल का इलाक़ा। अब सीधे आते हैं आम्बेडकर के कश्मीर विषयक विचार पर। वे साफ़ शब्दों में कहते हैं कि जम्मू और लद्दाख के इलाक़े को भारत अपने साथ रखे और पूरे कश्मीर को पाकिस्तान को सौंपे या कश्मीरी जनता पर छोड़े कि वहाँ के लोग क्या करना चाहते हैं! यह पाकिस्तान और कश्मीर के मुसलमानों के बीच का मामला है। इसके लिए कश्मीर में जनमत संग्रह कराया जा सकता है!

इस विवरण से स्पष्ट है कि धारा-370 के ख़ात्मे और फिर मनमाने ढंग के सूबाई विभाजन के फ़ैसले

के ज़रिये किस तरह आम्बेडकर के सपनों को पूरा किया है? इसके अलावा धारा-370 पर आम्बेडकर के रुख़ के बारे में भी बहुत सारे भ्रम फैलाए गये हैं। यह भी कहा जा रहा है कि उन्होंने धारा-370 का प्रारूप बनाने से इनकार कर दिया तब जाकर एन. गोपालासामी आयंगर को इसका दायित्व सौंपा गया। यह बात सिरे से ग़लत है। संविधान-निर्माण की प्रक्रिया का इतिहास पढ़ें तो तस्वीर साफ़ हो जाएगी कि संविधान के सभी अनुच्छेदों को सिर्फ़ एक व्यक्ति ने नहीं लिखा। पर सारे अनुच्छेद प्रारूप तैयार करने वाली समिति (ड्राफ़्टिंग कमेटी) के अध्यक्ष के रूप में आम्बेडकर की नज़र से ज़रूर गुज़रे। सबको उन्होंने सँवारा। कुछ पर ज़्यादा ज़ोर नहीं दिया क्योंकि ऐसे कुछ अनुच्छेदों पर कांग्रेस या तत्कालीन संविधान सभा के अधिसंख्य सदस्यों की राय से उनकी राय पूरी तरह मिलती नहीं थी। पर उन्होंने अनुच्छेद-370 (मूल रूप से 306-ए) का संविधान सभा में विरोध नहीं किया। मज़े की बात है, बाद के दिनों में इस अनुच्छेद के सबसे प्रबल विरोधी के रूप में उभरे जनसंघ नेता और संविधान सभा के तत्कालीन सदस्य श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने भी संविधान सभा में धारा-370 की मंज़ूरी के मतदान में इसका विरोध नहीं किया था। पूरी संविधान सभा में सिर्फ़ एक सदस्य ने इसका विरोध किया था और उनका नाम है : मौलाना हसरत मोहानी। उनके विरोध की वजह बड़ौदा का ख़ास प्रसंग था।

आम्बेडकर ... साफ़ शब्दों में कहते हैं कि जम्मू और लद्दाख के इलाक़े को भारत अपने साथ रखे और पूरे कश्मीर को पाकिस्तान को सौंपे या कश्मीरी जनता पर छोड़े कि वहाँ के लोग क्या करना चाहते हैं! यह पाकिस्तान और कश्मीर के मुसलमानों के बीच का मामला है। इसके लिए कश्मीर में जनमत संग्रह कराया जा सकता है! इस विवरण से स्पष्ट है कि धारा-370 के ख़ात्मे और फिर मनमाने ढंग के सूबाई विभाजन के फ़ैसले के ज़रिये किस तरह आम्बेडकर के सपनों को पूरा किया है? इसके अलावा धारा-370 पर आम्बेडकर के रुख़ के बारे में भी बहुत सारे भ्रम फैलाए गये हैं।

लोहिया और कश्मीर का मामला

इसी तरह लोहिया को भाजपा और सरकार में बैठे उसके नेताओं ने कश्मीर के मामले में लगातार ग़लत ढंग से उद्धृत किया। संसद में बैठे समाजवादी ख़ामोश रहे। *संसद में डॉ. लोहिया* नामक पुस्तक में लोहिया के भारत-पाकिस्तान रिश्तों और कश्मीर के संदर्भ में अनेक भाषण और विचार संकलित हैं। किसी भी स्थान पर लोहिया ने अनुच्छेद-370 के ख़ात्मे या राज्य के इस तरह के विभाजन की बात नहीं की है। इसके उलट लोहिया उस दौर में लगातार भारत और पाकिस्तान के फ़ेडरेशन या महासंघ की बात ज़ोरशोर से उठाते रहे। उनका मानना था कि ऐसे महासंघ से ही कश्मीर जैसे विवादों का भी समाधान हो जाएगा। इसके अलावा *लोहिया के विचार* शीर्षक से उनके लेखन और भाषणों का वृहत् संकलन नौ खण्डों में प्रकाशित है। इसके एक खण्ड में कश्मीर पर बाक़ायदा अध्याय है। पर इसमें भी लोहिया ने ऐसी कोई बात नहीं कही है। फिर लोहिया ने वह बात कहाँ कही, जिसका दावा भारत के गृहमंत्री अमित शाह ने संसद में किया? लोहिया बार-बार यह बात दोहराते रहे, कश्मीर के लोगों की रज़ामंदी के बग़ैर उनके बारे में किसी तरह का फ़ैसला नहीं होना चाहिए। उनको किसके साथ रहना है या नहीं रहना है, यह फ़ैसला उनका होना चाहिए। वे चाहे जहाँ रहें, पर महासंघ का हिस्सा बनें।
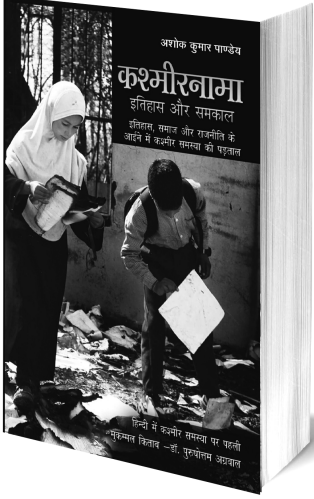
कश्मीरनामा : इतिहास और समकाल (2018)
अशोक कुमार पाण्डेय
राजपाल ऐंड संस, दिल्ली
पृष्ठ 522, 625 रु. (पेपरबैक)

संयोगवश, अशोक कुमार पाण्डेय की किताब का प्रकाशन अनुच्छेद-370 के सम्बद्ध प्रावधानों के ख़ात्मे से साल भर पहले हुआ था। लेखक ने किताब के नये संस्करण (2019) में इस बारे में एक बहुत संक्षिप्त परिशिष्ट जोड़ा है। कुल मिला कर यह हिंदी पाठकों के लिए कश्मीर पर बहुत प्रामाणिक जानकारी देने वाली किताब है। इसमें कश्मीर के इतिहास, समाज और उथल-पुथल भरे विभिन्न काल-खण्डों का विस्तृत लेखा-जोखा भी है और सामाजिक-राजनैतिक घटनाक्रमों और प्रक्रियाओं का गहन विश्लेषण भी। प्राचीन काल के कश्मीर से मोदी-शाह राज के कश्मीर तक के सामाजिक-राजनीतिक इतिहास को एक किताब में समेटना कोई आसान काम नहीं है। अशोक पाण्डेय ने कड़ी मेहनत और अपने गहन अध्ययन के बल पर इस चुनौतीपूर्ण काम को पूरा किया है।

कश्मीरनामा मूलतः द्वितीयक स्रोतों के सहारे लिखी गयी रचना है। लेखक ने कश्मीर-विषयक अंग्रेज़ी में छपी तमाम महत्त्वपूर्ण पुस्तकों में दर्ज तथ्यों के अलावा संस्कृत और फ़ारसी में उपलब्ध सामग्री, पूर्व में लिखे गये शोध प्रबंधों, विभिन्न सरकारी-ग़ैरसरकारी परिपत्रों, संधिपत्रों और अन्य दस्तावेज़ों का बेहतरीन उपयोग किया है। इन द्वितीयक स्रोतों का लेखक ने हर जगह बहुत ईमानदारी से उल्लेख भी किया है। हिंदी में गम्भीर और शोधपरक लेखन के लिए यह एक अच्छा और अनुकरणीय उदाहरण है। तथ्यों और सूचनाओं से लबालब यह किताब हिंदी पाठकों के सामने कश्मीर के समाज, इतिहास और वर्तमान का तथ्यपरक और वस्तुगत खाक़ा पेश करती है। यह इसका सबसे बड़ा अवदान है। अपने कलेवर और सामग्री के चलते *कश्मीरनामा* हिंदी क्षेत्र के पाठकों के लिए निश्चय ही कश्मीर पर एक अच्छी पाठ्यपुस्तक की भूमिका निभा सकती है।

अँधेरी बंद सुंरग : बाहर का रास्ता किधर है?

पर इस किताब में घटनाओं और तथ्यों के विश्लेषण में कुछ बारीक समस्याएँ भी हैं। कश्मीर के आधुनिक इतिहास, ख़ासकर उग्रवाद के बाद के कश्मीर को समझने और उसे व्याख्यायित करते अध्यायों में ये दिक़्क़तें हैं। अंत के सत्रहवें और अठारहवें अध्याय में विश्लेषण की कुछ सीमाएँ उजागर होती हैं। 1990 के बाद के हालात को समझने और व्याख्यायित करने के लिए भी लेखक ने आमतौर पर द्वितीयक स्रोतों का सहारा लिया है। किसी समकालीन समाज, घटनाक्रम या प्रक्रिया को समझने या उसे व्याख्यायित करने में विभिन्न लेखकों, राजनेताओं और नौकरशाहों की लिखी या कही बातें सहायक ज़रूर हो सकती हैं, पर सिर्फ़ उन्हीं की रोशनी में घटनाओं और प्रक्रियाओं का इतिहास लिखने-समझने के अपने जोखिम भी होते हैं। यह जोखिम इस किताब के आख़िर के कुछ अध्यायों में साफ़ दिखता है। अगर समकालीन इतिहास, ख़ासकर नब्बे के बाद के दौर को समझने और लिखने में लेखक ने समाज, राजनीति, नौकरशाही, कश्मीरी मीडिया, सेना-पुलिस और तमाम तरह के अलगाववादी-उग्रवादी संगठनों के प्रतिनिधियों से मुलाक़ात और बातचीत पर ज़ोर दिया होता तो सम्भवतः और बेहतर नतीजे आते, घटनाक्रम और प्रक्रियाओं के प्रस्तुतीकरण और विश्लेषण में ज़्यादा

गहराई दिखती। किताब के अंतिम अध्याय के अंतिम हिस्से के ब्योरों का निचोड़ बहुत उल्लेखनीय और बहुत महत्त्वपूर्ण होना चाहिए था। उक्त अध्याय के अंतिम हिस्से का उप-शीर्षक है— रास्ता किधर है? रास्ता है? इसकी शुरुआत बहुत अच्छी की गयी है, ख़ासकर भारतीय राष्ट्रवाद के तहत कश्मीरी राष्ट्रवाद के वजूद के सवाल की चर्चा बहुत महत्त्वपूर्ण है। पर चित्रलेखा जुत्शी के लेख और अन्य लोगों के उद्धरणों के बाद वह चर्चा आगे नहीं बढ़ पाती और दीगर ब्योरों में उलझ जाती है। लेखक यहाँ बलराज पुरी, बद्री रैना, निखिल चक्रवर्ती, पडगाँवकर कमेटी के सदस्यों और वजाहत हबीबुल्ला से लेकर अरुंधति रॉय और तारिक अली तक, अनेक लोगों को कश्मीर समस्या के समाधान के फ़ार्मूले के संदर्भ में उद्धृत करता है। उस वक़्त लगता है कि लेखक निश्चय ही इस सिलसिले को आगे बढ़ाते हुए भारत-पाक रिश्तों के संदर्भ में कश्मीर मसले के समाधान के ठोस पहलुओं, ख़ासकर निकट अतीत के कुछ विफल या स्थगित शासकीय प्रयासों की तरफ़ ले भी जाएगा। वे प्रयास नेहरू-शेख़ अब्दुल्ला-अयूब ख़ाँ के समय के हों, या मनमोहन-मुशर्रफ़ के समय के। पर पहले के प्रयासों की विफलता के ठोस कारणों और भविष्य के रास्ते पर कुछ ख़ास रोशनी नहीं पड़ती। लेखक अंत में एक अंग्रेज़ी पत्रिका के लेख में दर्ज एक ख़ास टिप्पणी के हवाले से यह कहते हुए निराश करता है : संक्षेप में रास्ता वही है जो वाजपेयी के दौर में भाजपा के जम्मू-कश्मीर प्रभारी महासचिव रहे नरेंद्र मोदी ने कश्मीर समस्या के समाधान के लिए तीन डी वाला सूत्र देते हुए प्रस्तावित किया था— डिवेलपमेंट, डेमॉक्रैसी और डॉयलाग! और अगर यह न सफल हो तो चौथे डी यानी डिफ़ेंस का इस्तेमाल। दुर्भाग्य यह है कि अकसर चौथे विकल्प का ही सबसे पहले उपयोग किया जाता है।

थ्री-डी जैसे कथित फ़ार्मूले के प्रणेता ने कश्मीर को किस मुक़ाम पर खड़ा कर दिया, उसकी भयावह तस्वीर आज पूरी दुनिया के सामने है! कश्मीर 1991-1992 से नहीं, 1986-1987 से ही गहरे अँधेरे में फँसा हुआ था, पर आज वह जिस गहन अँधेरी सुरंग में जा गिरा है, वहाँ से निकलने का फ़िलवक़्त कोई साफ़ रास्ता नहीं दिखता। लेकिन इतिहास तो यही बताता है कि तमाम मुश्किलों के बीच अंतत: लोग ही रास्ता बनाते हैं। अगले कुछ वर्षों में तय होगा कि कश्मीर के लोग अपनी मुश्किलों और चुनौतियों को कैसे सम्बोधित करते हैं और भारतीय सत्ता अपने नज़रिये को सुधारती है या उस पर क़ायम रहती है
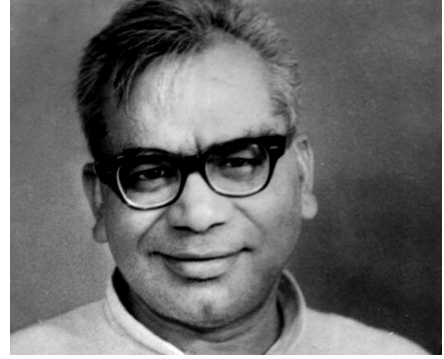
लोहिया ने अनुच्छेद-370 के ख़ात्मे या राज्य के इस तरह के विभाजन की बात नहीं की है। इसके उलट लोहिया उस दौर में लगातार भारत और पाकिस्तान के फ़ेडरेशन या महासंघ की बात ज़ोरशोर से उठाते रहे। उनका मानना था कि ऐसे महासंघ से ही कश्मीर जैसे विवादों का भी समाधान हो जाएगा। ... फिर लोहिया ने वह बात कहाँ कही, जिसका दावा भारत के गृहमंत्री अमित शाह ने संसद में किया? लोहिया बार-बार यह बात दोहराते रहे, कश्मीर के लोगों की रज़ामंदी के बग़ैर उनके बारे में किसी तरह का फ़ैसला नहीं होना चाहिए। उनको किसके साथ रहना है या नहीं रहना है, फ़ैसला उनका होना चाहिए। वे चाहे जहाँ रहें, पर महासंघ का हिस्सा बनें।